INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS

VOLUME 2, ISSUE 7, JULY 2014

ISSN-2320-2882

ORIGINAL ARTICLE

डॉ. जितेन्द्र शर्मा
एसो.प्रोफेसर-दर्शनशास्त्र
म.गाँ.चि.ग्रा.वि.वि., चित्रकूट

आलेख सार

पुमान पुमांसं परिपातु विश्वतः-अर्थात् मनुष्य मनुष्य की रक्षा करे। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें, आदि वैदिक ऋचाओं में गीता में वर्णित लोकसंग्रह के आदर्श के बीज विद्यमान हैं। वस्तुतः हर जीव आत्मकल्याण या हित चाहता है। यह अपनेपन या आत्मकल्याण की भावना जब उसके वैयक्तिक सम्बन्धों-देह और दैहिक सम्बन्धियों-पुत्र, पत्नी, पौत्रादि तक सिमट जाती है तब व्यक्ति स्वार्थी कहलाता है और जब अपनेपन का भाव जाति, धर्म, रूप रंग, लिंग, दैहिकता आदि बन्धनों को तोड़कर वैश्विक स्वरूप धारण कर लेता है यहाँ तक कि अपनेपन का यह भाव प्राणि जगत सहित वनस्पति जगत को अपने में सिमेट लेता है-तब ऐसे स्वकीय जनों और प्राणियों के हितार्थ किया गया कार्य परोपकार या लोक संग्रह कहलाता है। वसुधैव कुटुम्बकम की भावना भी इसी आत्म-विस्तार की फलश्रुति है। मानवीयसत्कर्मों का दायरा व्यक्ति के रुधिर सम्बन्धों तक न रहकर समस्त मानव जाति और प्राणधारियों के लिये होना चाहिए-लोक संग्रह सिद्धान्त की यही दार्शनिक अवधारणा है। दूसरे शब्दों में शरीरध्यास से जाग्रत होकर ब्रहमकार वृत्ति को अपना लेना ही लोक संग्रह है।

लोक संग्रही व्यक्ति सभी प्राणियों में स्वयं के और स्वयं में समस्त प्राणियों को देखता है। वह सर्वथा समदर्शी होता है। उसके लिये क्या अपना क्या पराया। प्रकृति के प्रत्येक उपादान में उसे अपने ही परमप्रभु की छाया प्रतीत होती है। ऐसा लोक संग्रही व्यक्ति अहंकार शून्य होते हुये स्थितप्रज्ञ होता है। मान-अपमान, हानि-लाभ, जय पराजय की भावना से परे होता है। वह प्रत्येक कार्य को प्रभु का आदर्श मानकर स्वयं निमित्तमात्र बनकर करता है।

लोक संग्रह हेतु स्वधर्म-अपने गुण और स्वभाव के अनुसार स्वेच्छया चयनित वर्ण धर्म, का पालन अनिवार्य होता है। यदि प्रत्येक वर्ण के लोग अपने गुण और स्वभाव के अनुसार अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन अनासक्त भाव एवं प्रभु अर्पण भाव से करें तो अपनी उन्नति के साथ ही साथ परार्थ में भी योग कर सकते हैं।

पुमान पुमांसं परिपातु विश्वतः-अर्थात् मनुष्य मनुष्य की रक्षा करे। इसके लिए जरूरी है हम समूहमन के साथ चलें। लोक मन के साथ चलें। लोक कल्याण में ही आत्म कल्याण को देखें। वैदिक ऋषि कभी भी 'मैं' और 'मेरा' का प्रयोग नहीं करते थे। इनके स्थान पर वे 'हम' और 'हमारा' का प्रयोग करते थे। उनकी मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी उदार थी। यजुर्वेद का ऋषि तो इस ऋचा के द्वारा सर्वमैत्रीभाव की अपने दैनंदिन आचरण में प्रतिष्ठा हेतु परम प्रभु

से प्रार्थना करता है-''मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे''[१]। हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें। वैदिक साहित्य कोष में सर्वविश्व, पृथ्वी, भूमा, भू:, भुव: और स्व: की अनुपम प्रतिष्ठा है। उन्होंने यह सीखा ही नहीं था कि अपने से भिन्न भी कहीं कुछ है तभी तो परवर्ती युग में कहा गया-''सर्व खल्विदं ब्रह्म''। अथवा ईसावास्यमिदं सर्व। माताभूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:[२]

व्यजेदकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थम् पृथ्वीं त्यजेत्।।

एक को (व्यक्ति) कुल के लिये, गाँव के लिये कुल को और जनपद के लिये गाँव को छोड़ देना ही कर्त्तव्य है। और आत्मार्थ पृथ्वी का परित्याग कर देना चाहिये। संत प्रवर तुलसी भी तो यही निर्देश देते हैं-

जाके प्रिय न रामवैदेही। तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही।

लोक कल्याणार्थ अभिव्यंजित ऋषियों की यही मन:कामना भगवद्गीता में लोक संग्रह के आदर्श के रूप में प्रफुस्टित हुई है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना ही लोकसंग्रह है। कुटुम्ब का तात्पर्य परिवार है। परिवार का अर्थ है एक दूसरे की सांसारिक सुख में सहायता के साथ आत्मोन्नति में यथा साध्य सहयोग करना। जहाँ लोग एक दूसरे का अधिकार छीनना चाहते हों, एक दूसरे से ईर्ष्या व डाह करते हों, पीछे खींचने का प्रयत्न करते हों और अपने स्वार्थ पर ही दृष्टि रखते हों वहाँ परिवार कहाँ वहाँ तो पाशविक समूह जैसी भावना ही समझना चाहिये। घर में जब प्रत्येक सदस्य एक दूसरे के लिये त्याग करने को तत्पर रहे। उसका अपना स्वार्थ दूसरों के स्वार्थ के साथ जुड़ा हो, एक की पीड़ा सबकी पीड़ा और एक की उन्नति सबकी उन्नति बनकर प्रकट हो तब समझना चाहिये कि हम पारिवारिक जीवन यापन कर रहे हैं। दूसरे हमसे ज्यादा खायें, पहनें, घर की सुख-सुविधा का भोग पहले दूसरे लोग करें, हमारी खुशी इसी में है। हमारा कर्त्तव्य तो अधिकाधिक त्याग और दूसरों की सुख शान्ति और विकास में सहायक होता है। मेरे रहते किसी को दु:ख तकलीफ न हो आदि की उदार भावना ही पारिवारिक भावना को प्रकट करती है।[३] एक की मृत्यु पर दूसरे का जीवन नहीं, एक के विनाश पर दूसरे का विकास नहीं बल्कि एक गिरे तो दूसरा उठाने का प्रयत्न करे। मनुष्यता के उन्नयन की इस प्रक्रिया में सभी के मध्य अंधे और लँगड़े जैसा साहचर्य, सामंजस्य और सहयोग होना चाहिये। 'एकाकी न रमते' यह हमारी समस्या है। दूसरे के सानिध्य में ही हमारा चरित्र बनता और बिगड़ता है। अत: व्यक्ति का कल्याण समष्टि के कल्याण में ही निहित है। 'सवों के उदय में मेरा उदय' यह कोई परोपकार का वचन नहीं है बल्कि सर्वंखल्विदं ब्रह्म'' की दार्शनिक अभिव्यंजना है। अध्यात्म और नीति का मिलन है। 'अयमात्माब्रह्म' का तत्वज्ञान ही कर्त्तव्यपंथ पर लोकसंग्रह या लोक कल्याण के आदर्श के रूप में भगवद्गीता में भासित हुआ है। यही लोक संग्रह सिद्धांत की दार्शनिक दृष्टि है। सामान्यतया सत्कर्मों का एक क्षेत्र परिवार मान लिया जाता

है। पर मनुष्य की शारीरिक और बौद्धिक शक्ति सामर्थ्य को देखते हुये यह सीमा बिल्कुल छोटी है। परमात्मा ने मनुष्य को जो विभूतियाँ और विशेषतायें दी हैं वह इस बात के लिये है कि वह सृष्टि के अन्य अबोध जीवधारियों की रक्षा, उत्पादन और विकास की बात सोचे। सत्कर्मों का दायरा व्यक्ति के रुधिर सम्बंधों तक न रहकर समस्त मानव जाति और प्राणधारियों के लिये ही होना चाहिये। मनुष्य को उपलब्ध हुई वे विभूतियाँ इन्हीं ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति में व्यय होनी चाहिये। जो व्यक्ति ईश्वर की भाँति ही उसकी सृष्टि को सुखी और समृद्ध बनाने में अपने अस्तित्व, योग्यता, शक्ति, साधन और सामर्थ्य सौपते रहते हैं, वे मनुष्य जीवन के सुयोग को सार्थक करते हैं और आत्मकल्याण का लाभ पाते है। शरीरध्यास से निकलकर ब्रह्मकार वृत्ति को अपनाते हुये परमशान्ति (मोक्ष) को प्राप्त करने का यही निर्देश आचार्य शंकर 'विवेक चूड़ामणि' में देते हैं-

अत्रात्मबुद्धिं त्यजमूढ़बुद्धे त्वङ्मांसमेदोऽस्थिपुरीषराशौ
सर्वात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे कुरुष्व शांति परमांभजस्व।[४]

लोक संग्रह के दार्शनिक आधार की चर्चा के उपरान्त आइये लोक संग्रही व्यक्तित्व के अन्य लक्षणों या विशेषताओं पर नजर डालें-लोक संग्रही समदर्शी होता है। वही परात्पर चेतना या भागवत विभूति का सच्चा अधिकारी होता है ऐसे भक्त का कभी विनाश या अनिष्ट नहीं होता। गीता के छठें अध्याय में स्वयं गीता नायक घोषणा करते हैं-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि, ईक्षतेयोगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन:[५]
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति, तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।[६]

जो सबके आत्मा मुझ वासुदेव को सब जगह अर्थात् सब भूतों में (व्यापक) देखता है और ब्रह्म आदि समस्त प्राणियों को मुझ परमात्मा (परमेश्वर) में देखता है, इस प्रकर आत्मा की एकता को देखने वाले उस ज्ञानी के लिये मैं ईश्वर कभी अदृश्य नहीं होता और वह ज्ञानी भी कभी मुझ वासुदेव से अदृश्य-परोक्ष नहीं होता क्योंकि उसका और मेरा स्वरूप एक ही है।

लोक संग्रही व्यक्तित्व के अगले लक्षण के रूप में 'स्थितप्रज्ञता' को अनिवार्य बताया गया है। भला काम, क्रोध, लोभ, मोह के विकट विपिन में भटकता हुआ इन्द्रियों के वशीभूत रहने वाला मायावी जीव लोक संग्रह के आदर्श को अपने जीवन में उतार ही कैसे सकता है? वहाँ तो घर फूँक तमाशा देखना है इस पथ पर आगे बढ़ने के लिये तो महात्मा कबीर का यह आह्वान ही पथप्रदर्शक का कार्य कर सकता है। ''जो घर फूँके आपना सो चले हमारे साथ।'' इसलिए स्थितप्रज्ञता लोक संग्रह की पूवपिक्षा ;च्तम.तमुनपेपजद्ध कही जा सकती है। ''स्थितप्रज्ञ मानव जीवन के लिये

सर्वोच्च अवस्था है तथा सर्वोच्च मूल्य है। स्थितप्रज्ञ का आचरण समाज में अनुकरणीय है क्योंकि वह समाज के लिये मापदण्ड है।''[७]

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि लोक कल्याणार्थ व्यक्ति को अहंकार का परित्याग कर सब कुछ प्रभु अर्पित करते हुये पद्मपत्रमिवाम्भसा जैसा आचरण संसार में करना चाहिये। निमित्तमात्र बनना अर्थात् नि:स्वार्थ व निष्काम भाव के साथ केवल भगवान का कार्य करना, उच्च स्तरीय व महत्वपूर्ण कार्यों के लिये जीवन लगा देना। कार्य का कर्ता भगवान को मानना और स्वयं को उनकी शक्ति का स्रोतवाहक समझना न कि स्वयं को कर्ता मानना। 'अहंकार ही व्यक्ति व भगवान के बीच एक परदा है। अहंकार का भाव आते ही व्यक्ति सांसारिक सीमाओं में बँध जाता है और फिर उसकी क्षमतायें, शक्तियाँ भी सीमाबद्ध हो जाती हैं। वह फिर असीम ऊर्जा को धारण करने योग्य नहीं रह जता है और इसी कारण अहंकार के आते ही उसके विकास के द्वार बंद होने लगते हैं और उसके जीवन में तुच्छता ही शेष रह जाती है। अहंकार व्यक्ति को क्षुद्र बना देता है और क्षुद्र जीवन जीने के लिये विवश कर देता है। वह स्वार्थी कूपमंडूक की तरह अपनी सीमा रेखायें स्वयं खींच लेता है।''[८]

जिस तरह बाँसुरी अन्दर से पोली होती है लेकिन जब उसमें स्वर फूँका जाता है तो उसकी मधुर ध्वनि मन को मोह लेती है। ठीक इसी तरह विनम्रता के साथ जब व्यक्ति भगवान के विराट अस्तित्व को स्वीकारता है और अपना सब कुछ उन्हें सौंपकर स्वयं को भगवान का यन्त्र बना लेता है तो फिर बाँसुरी की तरह उसके माध्यम से जो भी कार्य किये जाते हैं वह श्रेष्ठतम् ही होते हैं। बाँसुरी की तरह वह अपने जीवन को भगवान का निमित्त मात्र बना लेता है, वह भगवान के हाथों का यन्त्र बन जाता है जिसके माध्यम से भगवान स्वयं कार्य करते हैं। भगवान स्वयं गीता में कहते हैं-

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगम् व्यक्त्वा करोति य:
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।[९]

अब यहाँ पर एक प्रश्न यह पैदा होता है कि अहंकार रहित होकर, प्रभु का निमित्तमात्र बनकर वे कौन से कर्म करना चाहिये, जिससे लोकमंगल या लोकसंग्रह हो। प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि लोकसंग्रह हेतु स्वधर्म का पालन करना चाहिये। स्वधर्म का तात्पर्य अपने गुण और स्वभाव के अनुसार अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार कर्म करने से है-अर्थात् वह कर्त्तव्य जो समाज के प्रधान वर्गों में से प्रत्येक के लिये अलग-अलग निर्धारित किया गया है। दूसरे शब्दों में मुख्यत: सामाजिक कर्त्तव्यों का ऐसे कर्त्तव्यों का जिन्हें समाज में एकता लाने और उस एकता को बनाये रखने के साधन समझा गया है।[१०] अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को अपने गुण और स्वभाव के अनुसार सामाजिक कर्त्तव्यों (वर्णधर्म) में से स्वयं हेतु कर्म का चयन कर लेना चाहिये। यह सहज या स्वाभाविक कर्म स्वधर्म है। ऐसे स्वधर्म का

पालन प्राणपण से करना चाहिये। अर्थात् प्राण भले ही चले जाँय परन्तु हमें अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिये। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने गुण और स्वभाव के अनुसार अपने वर्ण धर्म का पालन गीतोक्त विधि से करता रहे तो लोक संग्रह की साधना स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। ब्राहमण-ब्राहमण का कर्म (ज्ञान, विज्ञान, अनुसंधान, आस्तिकता) करे, क्षत्रिय-अपनी शक्ति का प्रयोग समाज की सुख, शांति और सुरक्षा की वृद्धि हेतु करे, वैश्य-वाणिज्य, व्यापार और कृषि के द्वारा समाज में श्रीवृद्धि का प्रयास करे और शूद्र परिचर्यात्मक कर्म को करते हुये समाज के योगक्षेम हेतु कार्यशील रहे तो लोक संग्रह की सरिता स्वयमेव प्रवाहित रहेगी। चतुर्वर्णों का यही आत्मानुशासन लोक संग्रह का प्रथम पादान है।

अरे भाई! यह कहाँ का न्याय है कि एक व्यक्ति महलों में रंगरेलियाँ मनाये, रोशनी करे और उसके नीचे की झोपड़ी में दिया भी न जले। यह असामाजिक और हेय है। एक मिठाइयाँ उड़ावे, बहुमूल्य पदार्थों के जूठन को नाली में बहावे और दूसरों को सूखी रोटियाँ भी नसीब न हो। यह आनन्द उपभोग का विकृत रूप है। गीता के लोक संग्रह के इसी आदर्श को माँ भारती के अमर गायक 'प्रसाद' ने कामायनी में निम्नानुसार अभिव्यक्ति दी है- औरों को हँसते देखो, मनु हँसो और सुख पाओ। अपने सुख को विस्तृत कर दो सबको सुखी बनाओ। गीता के लोक संग्रह का यह आदर्श महाकवि भास के चरित्र नायक 'चारूदत्त' के आदर्श में पूर्णत: रूपायित होता है। जब वह कहता है-''मैं अपनी शरीर को तो ऐसा समझता हूँ मानो वह समाज का न्यास, समाज के उपयोग के लिये हो।''[११]

मैने अपना सर्वस्व अपने मित्रों के लिये खो दिया। जिस किसी ने मुझसे याचना की उसकी इच्छा पूरी हुई। अब दरिद्रता मुझे संतप्त करती है, पर फिर भी यदि संकोचवशात् धन हो गया तो वही करूँगा अर्थात् दीन-हीन की सहायता करते हुये दरिद्र बनना चाहूँगा।[१२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह के चादर में प्रसुप्त आत्मचेतना को जाग्रत करते हुये उसे परम प्रभु की चेतना के चौखट तक पहुँचाना, आत्मीयता का विस्तार करते हुये स्रष्टा की सृष्टि के प्रत्येक उपादानों में अपने ही प्रभु का दर्शन करना, उसके कल्याणार्थ स्वयं को समर्पित कर देना तथापि कर्तापन का भाव न पैदा होना ही आत्मकल्याण का मार्ग है। यही लोकसंग्रह आदर्श का सार है। जब आत्मचेतना, लोक चेतना या ब्राह्मी चेतना का आकार ग्रहण कर लेती है तो उसकी प्रत्येक पदचाप में लोक संग्रह की ध्वनि सुनाई पड़ती है। लोक संग्रह उसके स्वभाव का एक अंग बन जाता है। अथर्ववेद की यह ऋचा हमें लोक संग्रह का ही निर्देश करती है जो लोक संग्रह के परिप्रेक्ष्य में मानो गीता दर्शन का नान्दीपाठ है-

''शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह।।''

हे मनुष्य! तू सौ हाथों से अर्जन कर हजार हाथों से दान दें। इसी प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन करता हुआ तू उन्नति कर।[१३]

---

१ यजुर्वेद ३६ : १८
२ अथर्ववेद १२.१.१२
३ अखंड ज्योति, पृ.२८, फरवरी २०१३, प्रकाशक अखंड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी मथुरा।
४ आचार्य शंकर-विवेक चूड़ामणि, श्लोक सं. १६३, गोविन्द भवन कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर।
५ श्री मद्भगवद्गीता ६/२९ गीता प्रेस, गोरखपुर
६ वही, ६/३०
७ डॉ. बी.एन.सिंह-भारतीय दर्शन, पृ.१०५, स्टूडेन्ट्स फ्रेंड्स एण्ड कम्पनी, वाराणसी।
८ अखंड ज्योति, पृ.१४, दिसम्बर २०१३, प्रकाशक अखंड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी मथुरा।
९ श्रीमद्भगवद्गीता ५/१० गीता प्रेस, गोरखपुर
१० एम. हिरियन्ना-भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ.१२४, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना।
११ रामजी उपाध्याय-प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ.३, प्रकाशन चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।
१२ वही, पृ.३
१३ अथर्ववेद ३/२४/५